स वै पंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।

श्रीमद्भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्माको आनन्द प्रदायक। सब धर्मोंका श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर। भक्ति अधोक्षजकी अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंधनकर ॥

वर्ष १९ } गौराब्द ४८८, मास–त्रिविक्रम ८, वार–प्रद्युम्न, मङ्गलवार, ३० वैशाख, सम्वत् २०३१, १४ मई १९७४ { संख्या १२

मई १९७४

श्रीब्रह्मादि ऋषिकृतं श्रीश्रीवराहदेव–स्तोत्रम्

(श्रीमद्भागवत ३।१३।३६-४७)

जितं जितं तेऽजित यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः ।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरास्तस्मै नमः कारणसूकराय ते ॥१॥

भगवान् वराहदेवकी ऋषियोंने इस प्रकार स्तुति की—हे अजित ! हे यज्ञोंद्वारा आराध्य ! आप ही जययुक्त हुए, जययुक्त हुए। आप अपनी वेदमयी तनु या शरीरको सर्वत्र चला रहे हैं, ऐसे आपको नमस्कार हैं। जिसके लोमकूपमें सागरसमूह विलीनप्रायः होकर वर्त्तमान हैं, ऐसी पृथिवीके उद्धारके लिए शूकररूपधारी आपको नमस्कार है ॥१॥

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां दुर्दर्शनं देव यदध्वरात्मकम् ।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोमस्वाज्यं दृशि त्वंघ्रिषु चातुर्होत्रम् ॥२॥

हे देव ! आपकी यज्ञात्मक श्रीमूर्त्ति दुष्कृतिवाले व्यक्तियोंके दर्शनका विषय नहीं है। आपकी त्वचामें गायत्री आदि छन्द, रोमकूपमें कुश, दर्शनों (नेत्रों) में घृत एवं पादपद्मों में होत्र आदि चार कर्म विराजमान हैं ॥२॥

स्रग्तुण्ड आसीत्स्रुव ईश नासयोरिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे ।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम्॥३॥

हे परमेश्वर ! आपके मुखाग्रमें स्रुक् ('जुहू' नामक यज्ञपात्र) आपकी दोनों नासिकाएँ स्रुव नामक यज्ञपात्र, उदरमें इड़ा या यज्ञीय भक्षणपात्र कानोंके छेदोंमें चमस या सोमपात्र, मुखमें प्राशित्र या ब्रह्मभाग पात्र प्रकाशित है। मुखके भीतर वर्त्तमान छिद्रमें आपका जो चर्वण है, वही हमारा अग्निहोत्र है ॥३॥

दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं त्वं प्रायणीयोदयनीय दंष्ट्रः ।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः सत्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते ॥४॥

आपका बारम्बार प्रकाश ही दीक्षा अर्थात् दीक्षणीय यज्ञ है, ग्रीवादेश उपसद अर्थात् तीन प्रकारका यज्ञविशेष है। दण्ड-समूह प्रायणीया अर्थात् दीक्षाके पश्चात्का यज्ञ एवं उदयनीया अर्थात् समाप्ति यज्ञ है, जिह्वा ही प्रवर्ग्य अर्थात् उपसदके पहले किया जानेवाला महावीर नामक यज्ञ है, सत्य अर्थात् होमरहित अग्नि एवं आवसथ्य अर्थात् उपासनाग्नि—ये दोनों ही आपके शिरोदेश हैं एवं चिति अर्थात् यज्ञार्थ इष्टकाचयन आपके पंचप्राण है ॥४॥

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः संस्थाविभेदास्तव देव धातवः ।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धयस्त्वं सर्वयज्ञः क्रतुरिष्टिबन्धनः ॥५॥

हे देव ! आपका वीर्य सोमयज्ञ है, आसन अथवा बाल्यादि अवस्था ही प्रातःसवनादि तीन सवन हैं; अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोड़शी, वाजपेयी, अतिरात्र एवं आप्तोर्याम—ये सातों यज्ञ ही आपकी त्वचा, माँस, रक्त, मेद, अस्थि, मज्जा एवं शुक्ररूपी सात धातुएँ हैं। आपके शरीरकी सन्धियाँ ही समस्त यज्ञस्वरूप हैं। आप सर्वयज्ञमय हैं। यज्ञांगभूत ईश्वर भक्ति ही आपका बन्धन है ॥५॥

नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवता द्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने ।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावितज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः ॥६॥

सारे मन्त्र-देवता, सभी द्रव्य, सभी यज्ञ एवं यज्ञादि क्रियारूपी आपको बारम्बार प्रणाम करते हैं। वैराग्य अर्थात् कर्मफलकी इच्छासे रहित जो भक्ति है, उसकेद्वारा चित्त की स्थिरता एवं ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त होता है, आप वही ज्ञानस्वरूप हैं। अतएव ज्ञानप्रदानकारी गुरुस्वरूप आपको बारम्बार नमस्कार है ॥६॥

दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता विराजते भूधरः भूः सभूधरा ।
यथा वनान्निःसरतो दता धृता मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ॥७॥

हे पृथ्वीधर ! हे भगवन् ! आपके दांतोंके अग्रभागमें धृत पर्वतादिके साथ पृथिवी, जलसे निकले हुए मत्त गजराजके दांतोंमें धृत सपत्र कमलिनीकी तरह शोभा पा रही है ॥७॥

त्रयीमयं रूपमिदञ्च शौकरं भूमण्डलेनाथ दता धृतेन ते ।
चकास्ति शृङ्गोढ़घनेन भूयसा कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः ॥८॥

हे भगवन् ! महापर्वतके शिखरद्वारा मेघ धृत होनेपर जिस प्रकार वह पर्वत शोभा पाता है, उसी प्रकार आपका वेदमय एवं शूकररूप यह शरीर दांतोंमें धारण की गई भूमण्डल द्वारा शोभा पा रहा है ॥८॥

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां लोकाय पत्नीमसि मातरं पिता ।
विधेम चास्यै नमसा सह त्वया यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः ॥९॥

स्थावर-जङ्गमके वासस्थानके लिए आपकी पत्नी जगज्जननी इस धरणीको संस्थापन करें । जगतके पिता, आपके साथ माता धरणीको हम प्रणाम करते हैं । याज्ञिक व्यक्तियोंके अग्निस्थापनके लिए आपने इस धरणीमें अपनी शक्ति दे रखी है ॥९॥

कः श्रद्दधीतान्यतमस्तव प्रभो रसां गताया भुव उद्विबर्हणम् ।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये यो माययेदं ससृजेऽतिविस्मयम् ॥१०॥

हे प्रभो ! रसातलगता पृथिवीकी उद्धार-वासना आपको छोड़कर और किसमें हो सकती है ? यह विस्मयका विषय नहीं है, क्योंकि आप सभी विस्मयोंके आधार स्वरूप हैं । आपने मायाके प्रति दृष्टिपातद्वारा अत्यन्त आश्चर्यजनक इस विश्वकी सृष्टि की है ॥१०॥

विधुन्वता वेदमयं निजं वपुर्जनस्तपः सत्य निवासिनो वयम् ।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभिर्विमृज्यमाना भृशमीश पाविताः ॥११॥

हे परमेश्वर ! आप जो अपने वेदमय शूकर-शरीरका कम्पन कर रहे हैं, उससे आपके केशोंके अग्रभागसे जो पवित्र जलकणाएँ उठ रही हैं, वे महः, जन, तप एवं सत्य लोक निवासी हमारा अभिषेक करते हुए हमें परम पवित्र कर रही हैं ॥११॥

स वै बत भ्रष्टमतिस्तवैषते यः कर्मणां परमपारकर्मणः ।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं विश्वं समस्तं भगवन् विधेहि शम् ॥१२॥

आपकी लीला अगम्य एवं अपार है । अहो ! जो व्यक्ति आपकी लीलाकी सीमा जाननेकी इच्छा करता है, वह अत्यन्त मूढ़मति है । हे भगवन् ! आपकी मायाके गुण-संयोगद्वारा मोहित इस सारे जगत्का आप मङ्गल विधान करें ॥१२॥

वास्तव एवं अवास्तव वस्तुका ज्ञान

सदोपास्यः श्रीमान् धृतमनुजकायः प्रणयितां
बहद्भिर्गीर्वाणैर्गिरिशपरमेष्ठिप्रभृतिभिः ।
स्वभक्तेभ्यः शुद्धां निजभजनमुद्रामुपदिशन्
स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्॥

शिव, ब्रह्मा आदि देवता पार्षद रूपसे मनुष्य देह धारणकर प्रीतिपूर्वक सर्वदा जिनकी उपासना करते हैं एवं जो स्वरूप-दामोदर आदि प्रिय भक्तोंको अपनी विशुद्ध भजन-प्रणालीका उपदेश प्रदान करते थे, वे श्रीचैतन्यदेव क्या फिरसे मेरे नयनोंके गोचर होंगे ?

'उपनयन' के सम्बन्धमें मनु कहते हैं—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुति-चोदनात् ॥

श्रुतिके वचनोंसे जाना जाता है कि मनुष्योंके तीन प्रकारके जन्म हैं—शौक, सावित्र एवं दैक्ष्य। माताके कोखसे पहला जन्म ही शौक-जन्म है, पश्चात् सावित्र-संस्कार प्राप्त करनेपर दूसरा जन्म होता है एवं यज्ञ-दीक्षा होनेपर तीसरा जन्म है। सर्वप्रथम हम पिता के औरससे माताके कोखसे शरीर प्राप्त करते हैं, यह एक प्रकारका शरीर है। दूसरे प्रकारका शरीर आचार्य पिता एवं गायत्री माताके संयोगसे मौञ्जिबन्धनके समय प्राप्त होता है। "त्वां अह वेद समीपे नेष्ये" (मैं तुम्हें वेदोंके समीप ले जाता हूँ) आदि मन्त्रोंसे जब आचार्य-पिता वेद-अध्ययन करानेके लिए मौंजिबन्धन करते हैं, तब हमारा आचार्यके गृहमें जो जन्म होता है, वह दूसरा जन्म है। केवल शरीरकी रक्षा हो, ऐसा नहीं, वेद अर्थात् ज्ञानसंग्रह हो, इसीके लिए मौञ्जिबन्धन है। तीसरा जन्म हमारा यज्ञदीक्षाके समय होता है, इसका नाम दैक्ष्य-जन्म है। दैक्ष्य जन्मका कार्य यज्ञ-उपासना है। 'उपासना' कहनेसे समीपमें वास है। 'उप' पूर्वक आस् धातु भावसे अनट्। यह दीक्षा ग्रहणके परवर्त्तीकालका आनुष्ठानिक कार्य है। वास्तव वेद-मूर्त्तिके सम्मुख उपस्थित होकर हम जो कार्य करते हैं, उसीका नाम उपासना है। जिनके निकट जाकर वास करते हैं, उन्हें उपास्य कहते हैं। वे वेदपुरुष यज्ञेश्वर विष्णु हैं। जिसके लिए वास करते हैं, वही उपासना है, वही यज्ञ है।

यज्ञकी विधि भिन्न भिन्न युगोंमें भिन्न भिन्न प्रकारकी है—

कृते यद्ध्याययतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात् ॥

(१) सत्ययुगमें ध्यान-यज्ञ था, जब धर्मके चार पाद थे। (२) त्रेता-युगमें मख-यज्ञ था, जब धर्मके तीन पाद थे। (३) द्वापर युगमें परिचर्या-यज्ञ था, जब धर्मके दो पाद थे। (४) कलि युगमें कीर्त्तन-यज्ञ है, जब धर्मके

तीन पाद विनष्ट हो गये हैं एवं केवल धर्मका एकपाद जैसे-तैसे अवस्थान कर रहा है।

वेदशास्त्र श्रुति या कीर्त्तनद्वारा यहाँ आया है। अभी कलि-काल है, जो विवादका युग है। जो कोई बात क्यों न कहे, साथ-साथ तर्क, प्रतिवाद होता है। हरिकीर्त्तन ही एकमात्र श्रौत पथ है। ऐकान्तिक श्रौत गुरु श्रीमद् पूर्णप्रज्ञ मध्वाचार्य मुण्डकोपनिषद् भाष्यमें नारायण-संहिताका वाक्य उद्धार कर कहते हैं —

द्वापरीयैर्जनैर्विष्णुः पञ्चरात्रैस्तु केवलम् ।
कलौ तु नाममात्रेण पूज्यते भगवान् हरिः ॥

अर्थात् द्वापर युगके व्यक्ति विष्णुका पूजन केवल पञ्चरात्र विधिसे करते थे, किन्तु कलि-युगमें नामसे ही भगवान हरिका पूजन होता है।

उपास्य वस्तुके विषयमें विचार करना आवश्यक है। यदि अचेतन पदार्थके निकट बैठा रहूँ या उसके पास पहुँच जाऊँ,तो अचेतन पदार्थको कार्यमें लगाने लेनकी इच्छा होती है, हमारी सेवा करा लेनेकी इच्छा होती है। किन्तु जो वस्तु चेतन है, वह स्वतंत्र है। उस पर यदि उठनेकी चेष्टा करूँ, तो वह बाधा देती है। पूर्ण चेतन, पूर्ण स्वतन्त्रको कदापि हम कार्यमें लगा नहीं सकते। हम उनके कार्यमें लग जानेके लिए बाध्य होते हैं। आजकलके Utilitarian Theory (सामाजिक स्वार्थ का सिद्धान्त) नदीके जल, वायु, जल-प्रपात आदि जड़ीय वस्तुओंको कार्यमें लगा रहा है। किन्तु हम चेतन वस्तुको, पूर्ण स्वतन्त्र वस्तुको उस प्रकार कार्यमें लगा नहीं पाते—वे हमारे अधीनमें नहीं आते।

पृथिवीमें रहते समय हममें यह विचार प्रबल रहता है कि दूसरी वस्तुएँ हमारी सेवा करें—हम उपास्य होते हैं। हम उपासकका साज सजकर दूसरी वस्तुकी पूजा करनेका जो अभिनय दिखलाते हैं, वह उपासना क्या मिश्र भावयुक्त है या अमिश्र है? ऋषि लोग यज्ञादि करते थे, ध्यानादि करते थे, वे अपनेको दूसरों का सेव्य नहीं समझते थे, वे देवताओंकी सेवा करते थे। वे स्तवोंको उपासनाका अङ्ग समझते थे। इन सभी बातोंका प्रमाण अत्यन्त प्राचीनतम वैदिक इतिहासमें पूर्ण स्पष्ट रूपसे उल्लिखित है। उपासना नामक वस्तु नूतन रूपसे तैयार हुई है, ऐसी बात केवल ज्ञानावलम्बी या केवलाद्वैतवादी व्यक्ति ही स्थिर किया करते हैं। ब्रह्मके साथ एकीभूत हो जाना ही पुरुषार्थ है, ऐसे विचारके उत्पन्न होनेके बहुत पहलेसे जीवकी सरल,सहज, वृत्ति द्वारा 'सेवा करूँगा, उपासना करूँगा' ऐसा विचार ही था। आजकल कलिकालका विचार है कि उपासना परवर्त्तीकालमें तैयार हुई है। किन्तु वह सम्पूर्ण भ्रमात्मक है। जहाँ चेतनधर्म है, वहीं उपासनाकी बात प्रचलित है। सर्वप्रथम ब्रह्माके हृदयमें ब्रह्म या वेद-वस्तुकी स्फूर्त्ति हुई थी, वास्तव सत्य ब्रह्माके हृदयमें स्फूर्त्ति प्राप्त हुआ था।

ब्रह्माके सन्तान ही ऋषि एवं देवता हैं, देवता लोग अशेष दीप्तिसम्पन्न होनेके कारण ऋषि लोग यत्नपूर्वक देवताओंकी सेवा करते

थे। इस प्रकारका सेव्य-सेवक भाव चिरकाल ही देवताओं एवं ऋषियोंमें था।

हमारे चेतनके आदि विकासमें देखा जाता है अथवा सभ्यता या बुद्धिमत्ताकी आलोचनाके पहलेके समयमें भी देख पाते हैं कि सेवा या उपासना ही हमारी स्वाभाविक वृत्ति है। प्राचीन समयकी जितने प्रकारकी धर्म-प्रणालियाँ देखते हैं या प्राग्-इतिहासोंमें भी देखते हैं कि हमारी सेवा करनेकी वृत्ति ही स्वाभाविक है।

कलिकालमें इतना विवाद उपस्थित हो गया है, क्योंकि हम प्रभुत्व करनेके लिए व्यस्त हुए हैं। सामाजिक स्वार्थ-नीति प्रचुर परिमाणमें परिवर्द्धित हो गयी है। जितनी वस्तुओंको काममें लगा लिया जाय, उसका हम प्रयास करते हैं। हममें प्रत्येक व्यक्ति उपास्य होनेके लिए कितनी उपासना न कर डालते हैं! सभ्यताके पूर्वकालमें 'विनिमय' नामक एक कार्य उत्पन्न हुआ था। मैं यदि किसीकी कुछ सेवा कर दूँ, तो वे मुझे कुछ मूल्य देते हैं। मनुष्य जाति सेव्य-सेवक भावसे परस्परमें अवस्थित है। इस जगत्में सेवा करनेके यन्त्र हमारे ग्यारह हैं—आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा, वाक्, पाणि (हाथ), पाद, पायु, उपस्थ एवं मन। इन सभी करणोंद्वारा हम परस्परमें वृत्तिका परिवर्तन करते हैं। एक व्यक्ति श्रेष्ठ हुआ करते हैं एवं और एक व्यक्ति अधीन हुआ करते हैं। एक व्यक्तिकी निम्न भूमिका है, तो दूसरेकी उच्च भूमिका है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिकी सेवा करता है।

मानवमात्र ही या प्राणीमात्र ही अथवा चित्-अचित् वस्तुमात्र ही उपासक, उपासना एवं उपास्य—इन तीन प्रकारके सम्बन्धमें अवस्थित है। जहाँ एकसे अधिक 'अनेक' कहकर वस्तु उपस्थित हुई है, वहाँ एक वस्तु दूसरे वस्तुकी सेवा कर रही है। चित्-अचित् पूर्ण जगत्में हम इस उपासना नामक कार्यको ही देख रहे हैं, तथापि हम बुद्धिमान् एवं युक्तिपरायण होनेका अभिमान कर निर्विशेषवादकी स्थापना करना चाहते हैं। निर्विशेषज्ञान ही यदि मेरा उपास्य हो, तो उस प्रकारके उपास्यकी उपासना करनेकी मैं जो चेष्टा करता हूँ, वह भी मेरी उपासना चेष्टामात्र है। निर्भेद ब्रह्मके अनुसन्धानकारी कहते हैं कि ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान—ये विचार जहाँ एकीभूत हो गए हैं, वहीं बुद्धिमत्ताकी आखिरी सीमा है। विचित्रताका लोप हो जाय—एक देख रहा है एवं दूसरा दिखा रहा है, इन दोनों की वृत्ति नष्ट हो जाय, इस क्रियाका नाम जड़ता है। आलोकके द्रष्टा, आलोक एवं आलोक-दर्शन कार्य नष्ट हो गये, तो उपासना के हाथसे, त्रितत्त्वके हाथसे बचकर निकल गये, ऐसा वे सोचते हैं। हम किसी एक कार्यमें हैं, कर्म करने बैठे हैं, वह नष्ट हो जानेपर कर्म नष्ट हो जाता है, हममें ऐसा विचार उपस्थित हुआ है।

अविनश्वर वैकुण्ठ एवं नश्वर जगत्के बीच हमारा तटस्थ अवस्थान है। यहाँ की सभी प्राकृत धारणाओंकी बातोंका अन्त होगा,

यदि हम तटभूमिमें जाकर पहुँचें। जब तक अचित्का अनुसंधान करते हैं, तब तक यही समझते हैं कि ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान नष्ट होने पर हमारा अमङ्गलके हाथोंसे उद्धार हो जायगा। ऐसा प्रस्ताव जहाँ जाकर पहुँचे; उस स्थानके दो तरफ नहीं है—ब्रह्माण्ड नहीं एवं वैकुण्ठ भी नहीं। तटस्थ शक्तिस ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान परिणत होता है। यह सत्यवस्तुका एक नश्वर विभाग है। यहाँ जो उपासक, उपास्य, उपासना आदिका जो अभिमान एवं आचरण करते हैं, वे एक नहीं, बहुत हैं। यह बात भी प्रचलित है कि एक सेवक बहुतसे वस्तुकी सेवा नहीं कर सकता। यहाँ की वस्तु की जब सेवा करने जाते हैं, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदियोंकी सेवा हो जाती है। उपास्य, उपासक एव उपासना एकीभूत हो जानेपर महान् हिंसा आकर उपस्थित होती है।

बुद्धिमान् लोग कहते हैं इतिहासमें चिर दिन ही भक्तिकी बात वर्त्तमान है—भक्तिकी वृत्तिमें प्रत्येक वस्तु सेव्य-सेवक भावसे आबद्ध होकर वर्त्तमान है। उसमें सेव्य हो जाना ही अभद्र या अकल्याणकारी है।

उपास्य होऊँ या उपासक होऊँ? एक प्रकारके व्यक्तियोंको 'बाउल' कहा जाता है। 'बाउल' कहते हैं कि मैं भोक्ता हूँ, यह गृह मेरा भोग्य है, गृह मेरी सेवा करेगा। बाउल दो प्रकारके हैं—गृही बाउल एवं त्यागी बाउल। कुछ त्यागी बाउल भोगके ही मतलब से 'कृष्ण' सजनेकी चेष्टा करते हैं—कृष्ण हो जाना ही अच्छा समझते हैं। मेरे अधीनमें दूसरे-दूसरे व्यक्ति रहें, उनका ऐसा विचार है।

श्रीगौरसुन्दरने इस मतवादको स्वीकार नहीं किया। वे कहते हैं कि वेदान्त या वेद का तात्पर्य केवलाद्वैतवाद नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि वेदोंमें तीन प्रकारकी बातें हैं—सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन। ये बदल नहीं सकते। श्रीचैतन्य महाप्रभुने शक्तिपरिणाम-वादकी बात कही है, विवर्त्तवादकी बात नहीं कही है।

प्राचीन वैष्णव श्रीमध्वाचार्यपाद कहते हैं कि विष्णु ही परतत्व एवं पुरुषोत्तम वस्तु हैं। निर्भेद ब्रह्मानुसन्धानकारी कहते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म ही परतत्व हैं। किन्तु यह बद्धावस्थाकी बात है। मुक्त अवस्थामें इस बातका खण्डन हुआ है। सभीके मूल वस्तु विष्णु हैं। विष्णुमें ही पारतम्य या सर्वश्रेष्ठता है, उनमें ही सब सौंदर्य है। हमारे आचमनीय मन्त्रमें भी देखते हैं—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥

सदाचार जिनमें जितने परिमाणमें है, वे उसी परिमाणमें श्रेष्ठ हैं। वर्णोंमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि आचार्यके निकट उन्होंने आचारकी शिक्षा ग्रहण की है। क्षत्रिय पृथिवी के रक्षा-कर्त्ता हैं, वे राजनीति लेकर रहते हैं। और जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञानादि या भगवत्सेवामें अत्यन्त व्यस्त हैं, उनके लिए दूसरे-दूसरे कार्य करनेका समय कम है।

ब्राह्मणका जीवन भिक्षुकका जीवन है। ब्रह्मज्ञान ही जिनकी ज्ञान-वृत्ति है, उनकी सेवा करना या सहायता करना ही सबका कर्त्तव्य है। ब्राह्मण अपनी प्रयोजनीय वस्तुओंको भिक्षाद्वारा ग्रहण करेंगे, अधिक होनेपर वितरण कर देंगे—रक्षा भी करेंगे. रक्षा करना क्षत्रियोंका कार्य है।

अनेक स्थानोंमें अत्यन्त अभावग्रस्त भिक्षुकोंके साथ साधुओंको समान समझा जाता है। साधारण अभावग्रस्त भिक्षुकको भागवतीय त्रिदण्डि या साधु-भिक्षुकके समान समझ लेनेसे सब बातें उलट जाती हैं।

Vagrancy Act (भिक्षुक नियन्त्रण कानून) निष्कपट परिव्राजक त्रिदण्डी भिक्षुक के ऊपर प्रयुक्त नहीं है। यदि ब्रह्मानुसन्धानकारीको भोजन एवं आच्छादन के लिए अधिक समय व्यय करना पड़े, तो ब्रह्मज्ञान-संग्रहका समय कम हो जायगा। अतएव मनुका कहना है कि सारी पृथिवी ब्राह्मणोंका है। जो व्यक्ति भगवान्‌की उपासना करते हैं, उनके लिए जब जो वस्तु आवश्यक हो, उसे वे अपनी निर्वाहकी आवश्यकतानुसार ग्रहण करेंगे, उनमें उस वस्तुके लिए व्यस्ता नहीं है। उनको ब्रह्मज्ञानालोचनाके लिए जितना प्रयोजन हो उतना देनेके लिए समाज बाध्य है। जो समाज ब्राह्मणोंका अधीन नहीं है, वह असुविधाके अतल गर्त्तमें चला जायगा।

शूद्रके उपास्य ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य हैं। इस जगत्‌में यदि कोई श्रेष्ठताका अभिमान करते हैं, तो इस क्रमसे जायेंगे। जो ब्राह्मणों के अनुसन्धान करने योग्य या सेव्य ब्रह्म-वस्तु का अनुसन्धान कहीं करते, उनके लिए जड़ जगत्‌की दूसरी दूसरी बातें आकर उपस्थित होती हैं।

जिस प्रकार मनुष्यका मुख श्रेष्ठ है, बाहु उससे कनिष्ठ है, उससे जंघा कनिष्ठ है, उससे पद कनिष्ठ है अर्थात् उत्तमांगसे क्रमशः अधमांगकी ओर अवतरण है, उसी प्रकार ब्राह्मण उत्तम है, उसकी अपेक्षा क्षत्रिय कनिष्ठ है, वैश्य उससे भी कनिष्ठ है एवं शूद्र सर्वापेक्षा कनिष्ठ है। मुखमण्डल सर्वोत्तमांग है, उसमें बुद्धि या मस्तिष्कका स्थान है और मुख या कीर्त्तनके स्थानका सन्निवेश है। जो ब्राह्मण सर्वदा उनके प्रभु पुरुषोत्तम विष्णुका कीर्त्तन करें, उस ब्राह्मणका नाम ही वैष्णव है। मस्तिष्क विचार विवेचना कर देता है। समाजके बाहु, समाजके जांघ जो कार्य कर रहे हैं, उसे समाजके मस्तिष्करूप ब्राह्मण नियमित करते हैं। समाजका पाँव ऐसा चलना उचित है या नहीं, यह बात मस्तिष्क बतला देता है अर्थात् ब्राह्मण कह देते हैं। वे कह देते हैं कि यहाँ विचरण करना उचित है या नहीं। ब्राह्मणोंका कहना है कि कृष्णभूमिमें या नित्यदेशमें विचरण किया जाय।

यदि बाउल व्यक्ति कहे कि मैं कृष्ण सजकर भोग करूँगा या गृही बाउल यह सोचे कि मैं गृहका भोग करूँगा, तो बाहरी जगत् का सेवक होकर कितने दिनों तक सेवा की जा सकती है? ब्राह्मण यदि अपने प्रभु परमेश्वर की सेवा न करें, जिनके वे नित्य सेवक हैं,

उनकी सेवा यदि न करें, तो वे धीरे धीरे पतित होकर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, म्लेच्छ हो जाते हैं।

एक प्रकारके अर्वाचीन व्यक्ति कहते हैं कि इस जगतकी दास-वृत्ति अत्यन्त खराब है। अतएव परजगतमें और दासकी वृत्ति न करेंगे, प्रभु हो जायेंगे, उपास्य हो जायेंगे। उनकी धारणाके अनुसार परजगत भी इस जगत्का तरह असुविधा मिश्रित या त्रिगुणताड़ित है। 'वैकुण्ठ' की बात न जाननेके कारण ही ऐसा विचार आकर उपस्थित होता है। अविकृत बिम्बमें विकृत प्रतिबिम्बकी तुच्छताका अनुमान एवं आरोप मात्र होता है। जहाँ कुण्ठा धर्म नहीं है, अमंगल की कोई बात नहीं है, वहाँ अमङ्गलकी वस्तु यहाँसे ले जाना अनुचित है। सूर्य स्वप्रकाश वस्तु है, वहाँ प्रकाश नहीं ले जाना पड़ता। इसकी एक कहानी है। एक नाविक सोचने लगा कि नावका गुण या रस्सी खींचनेमें खूब कष्ट होता है। अत्यन्त असमान स्थानमें काँटे-कङ्कड़ आदिके ऊपरसे जाना पड़ता है, उससे कई समय उसके पाँवमें घाव हो जाता है। अतएव यदि वह किसी दिन किसी प्रकारसे बड़ा आदमी बन सके, तो नदी के तीरमें गद्दी, तोषक, रजाई आदि बिछाकर उसके ऊपर खड़े होकर अनायास ही रस्सी खींच सकेगा। यह नाविक ऐसा निर्बोध था कि वह दरिद्र-अवस्थाकी असुविधाओंको उसके धन-लाभकी अवस्थामें ले जाना चाहता था। उसके माथेमें यह नहीं आया कि यदि रुपये मिल जाय, तो उसे उस प्रकारसे रस्सी क्यों खींचनी पड़ेगी? जो व्यक्ति इस जगत्के कुसंस्कार इस जगत्की विचार-प्रणाली वहाँ ले जानेका प्रयास करते हैं, जो व्यक्ति प्राकृत जड़ीय विचारको अधोक्षज राज्यमें ले जाना चाहते हैं, जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि यहाँकी तरह वहाँ भी दास-मनोभाव है, यहाँकी तरह कष्टपूर्ण दास्य वहाँ भी है, वे लोग उस नाविककी तरह अज्ञ हैं। वहाँ जो दास्य है, वह मुक्तावस्थाका दास्य है एवं वही जीवोंका स्वभाव या चरम स्वाधीनता है। वैसे दास्यद्वारा अजित भगवान् भी जीते जाते हैं—सभी प्रभुओंके प्रभु भी विक्रीत हो जाते हैं।

उपनिषद्में एक उपाख्यान है। एकबार देवताओंके पक्षसे इन्द्र एवं असुरोंके पक्षसे विरोचन ब्रह्माके निकट आत्म-तत्त्व शिक्षा करनेके लिए पहुँचे। विरोचनने अपने स्थूल शरीरका प्रतिबिम्ब देखकर उसे ही आत्मतत्त्व समझा। इन्द्र विरोचनकी तरह जल्दबाजी न कर ब्रह्माके वाक्यका यथार्थ तात्पर्य उपलब्धि कर सहिष्णु होकर आत्मतत्त्वका अनुसन्धान करने लगे एवं देह एवं मनके अतिरिक्त नित्यवस्तुको आत्मवस्तु समझ पाये। बाहरी दृष्टिसम्पन्न विचारक सम्प्रदाय बाउलगिरि करनेकी जो बुद्धि करते हैं, वह असुर-बुद्धि है। देवासुर संग्राम सब समय चल रहा है। यह जो उपासनाकी पद्धति या भक्तिकी पद्धति है, जिसके द्वारा सूरियोंने विष्णुको ही सर्वोत्तम दिखलाया था, जब उनपर आक्रमण करनेकी दुर्बुद्धि उपस्थित हुई, तब अदैव विचारने जीवकी चेतन वृत्तिको ग्रास कर लिया। मनुष्य जब अत्यन्त अपस्वार्थपर हो जाए, तब ही विष्णु-उपासनापर आक्रमण करते हैं। तब

वे देवताओंकी पदवीसे पतित हो जाते है। देवता भी उन्हें बाधा देते हैं। देवता सोचते हैं कि ऐसे व्यक्ति विष्णु होनेकी चेष्टा कर रहे हैं एवं प्रतियोगी उपस्थित हो गये। सत्य, महः, जन एवं तपोलोकके पुरुष स्वर्गलोकके भोगी देवताकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे उन लोकोंके त्यागी-व्यक्ति हैं।

साधारण व्यक्तियोंके विचारसे विष्णु एक देवताविशेष हैं, दूसरे-दूसरे देवता विष्णुद्वारा शक्ति-प्राप्त देवता नहीं हैं। सब देवताओंको तोड़ फोड़कर या एक तरफ रखकर ब्रह्मके साथ मिलकर एक हो जाऊँगा—यही बहु-देवतावाद, पंचोपासना या तथाकथित समन्वयवादकी प्रतिज्ञा है। उन लोगोंने पहले से ही गाँठ बाँध रखा है कि उपास्य वस्तु निर्विशेष है, उसकी उपासना करनेकी आवश्यकता नहीं है। केवल कपटता या छल कर तात्कालिक उपासना एवं उस तात्कालिक उपास्यके अनित्य नाम, अनित्य गुण, अनित्य क्रिया स्वीकार की जाय, ऐसा विचार जगतके कड़ुवे अनुभव प्राप्त होनेके कारण वे करते हैं। उससे रक्षा पानेके लिए श्रीमद्भागवतका एक श्लोक है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षीणोत्यभद्राणि च शं तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम्॥

अर्थात् श्रीकृष्णके पादपद्म-युगलके अनुक्षण स्मृति जीवोंके सभी अभद्र अर्थात् अमंगल विनष्ट कर असीम कल्याण प्रदान करती है। उनके चरण-स्मरणसे अन्तःकरणशुद्धि एवं ज्ञानविज्ञान तथा वैराग्ययुक्त प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त होती है।

काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्ययुक्त होना ही अभद्रग्रस्त होना है या कृष्ण-कार्ष्ण विरोधी होना ही अभद्रग्रस्त होना है। कृष्णपादपद्मके नित्य स्मरण होनेपर इस अमंगलसे मुक्त हो सकते हैं। यदि एकबार अग्निकी चिनगारीकी तरह स्मृति-पथमें कृष्ण स्मृति आ जाए अर्थात् मैं जो नित्य कृष्णदास हूँ, इस बातकी अनुभूति हो जाए, तो सारे अमंगलोंपर आग लग जाती है।

यदि कोई सब प्रकारसे हरिकीर्त्तन करें, तो ही उनका हरिस्मरण होगा, ऐसा होनेपर ही वे अमानी-मानद-तृणादपि सुनीच हो सकते हैं। 'तृणादपि' श्लोकमें 'सदा' शब्दका अर्थ है काम-क्रोधादिको अवसर न देकर बिना किसी विक्षेपके हरिकीर्त्तन करना। काम-क्रोधादि युक्त व्यक्तिमें तृणादपि सुनीचत्व नहीं है—जड़ सम्भोगवादमें रुचियुक्त व्यक्तिमें तृणादपि सुनीचता नहीं है। निरन्तर कृष्णानुसन्धान या विप्रलम्भ रसमें आसक्त व्यक्तिकी ही तृणादपि सुनीचता है।

जागतिक सत्यमें एक आपेक्षिकता है। आपेक्षिक धर्ममें जिस सत्यका उदय हो, वह विशुद्ध सत्य नहीं है। परमात्माकी सेवा जड़ वस्तुकी सेवा नहीं है। कृष्ण ही परमोपास्य या सदुपास्य हैं। सर्वदा कृष्णका कीर्त्तन करो। जो कृष्णके नाम, रूप, कृष्णके गुण, कृष्णके परिकर-वैशिष्ट्य, कृष्णकी लीलाका निरन्तर कीर्त्तन करनेके लिए कहते हैं, उनके पादपद्म ही सब समय उपास्य हैं अर्थात् श्रीगुरुपादपद्म ही

सब प्रकारसे नित्य उपास्य हैं। वे नित्य भगवत्-पार्षद हैं, उनके सेवक वैष्णव लोग—उपास्य हैं।

बहुतसे व्यक्ति 'अहं ब्रह्मास्मि' आदिका एकदेशदर्शी या एकतरफ़ा विचार कहते हैं। श्रुति-मन्त्रके सर्वतोमुखी विचार ग्रहण करनेके लिए सहिष्णुता स्वीकार नहीं करते। भक्तिको आश्रय करनेसे ही मायाकी दुष्पारा जलधि या सागर हम अनायास ही उत्तीर्ण हो सकते हैं। पूर्व-पूर्व महाजनोंका पथानुवर्त्तन ही हमारा ध्रुव-तारा है। पूर्व महाजन लोग सत्त्वशुद्धि प्राप्त कर ज्ञान-विज्ञान-वैराग्य युक्त हुए हैं। विशुद्ध सत्त्वोज्ज्वल हृदयका नाम ही वसुदेव है। उस हृदयमें ही ज्ञान अर्थात् सम्बित्-विग्रह वासुदेव, विज्ञान अर्थात् प्रेमा, वैराग्य अर्थात् अभिधेय भक्तिका उदय होता है। हम ऐसा विचार अवलम्बन करने पर अयुक्ति-पूर्ण राज्यसे पार जा सकते हैं। 'तमः' अर्थमें मायावाद, कर्मवादमें भोग-प्रवृत्ति है। त्रिदंडि व्यक्ति यही विचार अवलम्बन कर भगवद्-राज्यकी ओर अग्रसर होते हैं। मानवजातिके सभी व्यक्ति ही त्रिदण्ड ग्रहण कर अग्रसर हो सकते हैं—

एतां समास्थाय परमात्मनिष्ठा-
मुपासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं दुरन्तपारं तरिष्यामि
तमो मुकुन्दांघ्रिनिषेवयैव ॥

अर्थात् मैं प्राचीन महर्षियोंद्वारा उपासित इस परात्मनिष्ठा रूप भिक्षुकाश्रम अवलम्बन कर कृष्णपादपद्मकी सेवाद्वारा यह दुरन्त या कष्टसे पार किये जानेवाले संसार रूप तमः (अन्धकार) को उत्तीर्ण हो जाऊँगा।

कृष्ण ही मूल उपास्य वस्तु हैं। जहाँ जो कुछ अस्तित्व या चेतनता हो सकती है या होगी, सभीके ही उपास्य वस्तु हैं। सभी चेतन-अचेतन आदिके कृष्ण ही एकमात्र उपास्य वस्तु हैं। वे सेवककी सेवा करनेके लिए सेवकका आकर्षण करते हैं। परम सेवक की सेवाको छोड़कर यदि दूसरी वस्तुमें चित्तवृत्ति जाय, तो हम जैसा और बुद्दू व्यक्ति ढूंढ़नेसे भी नहीं मिलेगा। जो सेवा करना चाहते हैं, उनकी जो सेवा करते हैं, वे ही अनन्त परतम-परतम-परतम तत्त्व हैं, वे ही सर्वकारण-कारण-कारण तत्त्व हैं। परतत्त्व कृष्णको स्वयंरूप कहा गया है, जिनके रूपका थोड़ा सा अंश पाकर उनके भृत्यलोग परम रूपवान हुए हैं। उनके भृत्य लोग भगवानकी सेवा करनेके लिए रूपको सेवोपकरण समझते हैं, उपादान समझते हैं। कृष्णके रूपके कोटि-कोटि अंशके एक अंशके साथ किसी भी दूसरे रूपकी तुलना नहीं हो सकती। जब हम कृष्णकी सेवा करना चाहते हैं, तब हमें रूपवान होना होगा। उस समय हम, अपनेको सजाना चाहते हैं। ऐसे समयमें 'अभिसार' नामक एक कार्य होता है, जो दो प्रकारका है—शुक्लाभिसार एवं कृष्णाभिसार पहला तो चन्द्रमाके विद्यमान रहते समय एवं दूसरा चन्द्रमाके न रहनेपर होता है। मैं ये सभी बातें इस भाषामें बोलना नहीं चाहता, दुर्बल रसनाने कह डाली है। यहीं तक ये बातें रहें।

स्वयं-रूप कृष्ण हैं एवं स्वयं-प्रकाश तत्त्व बलदेव प्रभु हैं। नित्यानन्दजी स्वयं प्रकाश तत्त्व हैं, स्वयं-रूप नहीं। और एक वस्तुके सहायतासे वे सर्वशक्तिमान हैं, वे बलवान् हैं। उनकी शक्तिको हटाया नहीं जा सकता, वे निःशक्तिक नहीं हैं। बलशक्ति बलदेव-शक्तिमत्तत्त्वकी शक्ति-विशेष है। यद्यपि उनमें शक्तिमत् तत्वका विचार प्रबल है, तथापि वे शक्तिजातीय हैं। उपास्य पर्यायमें कृष्णके पश्चात् बलदेवजी हैं। वे महावैकुण्ठमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध रूपसे विराजमान हैं। ये सभी बातें त्रिगुणोंके अन्तर्गत वर्त्तमान लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई रूप तीनों आयतनोंको पारकर चौथे आयतन की बात है। पचम आयतन या स्तर की बात और भी ऊपरकी है। पञ्चम राग कृष्णकी मुरलीकी बात है।

वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध— इन चारों व्यूहों द्वारा एकीभूत जो नारायण वस्तु हैं, वे बलदेव प्रभुके द्वारा प्रकाशित होकर महावैकुण्ठमें अवस्थित हैं। उनके निकट व्यूह नामक एक कार्य है। उपास्य तत्वके पाँच प्रकारके स्वरूप हैं। जिन व्यक्तियोंने अर्थपंचक की आलोचना की है, वे लोग ये सभी बातें जानते हैं। अर्थपंचकके ज्ञाताको छोड़कर दूसरेके निकट हम ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। अर्थपंचकका ज्ञान न होनेपर गुरुका कार्य नहीं किया जा सकता।

अर्थपंचक इस प्रकारसे है—

(१) अर्चावतार—ये आठ प्रकारसे हैं। अर्चावतार हमारी तरह अभागे जीवोंपर या अत्यन्त मोटी बुद्धिवाले जीवोंपर कृपा करनेके लिए इस जगत्में अवतीर्ण हैं। जब द्वापर-युग के अन्तमें भगवान् कृष्णने प्रकट-लीलाकी थी, हमारे जैसे भाग्यहीन जीव उस समय जगतमें आ नहीं पाये थे, हम कृष्णका दर्शन प्राप्त नहीं कर पाये थे। अतएव कृष्णकी बात कुछ भी नहीं जानते। किन्तु कृष्ण अर्चा स्वरूपसे हम पर कितना मंगल कर रहे हैं! ये अर्चा सार्वकालिक हैं। हम बहुत पीछे जन्मग्रहण करनेपर भी कृष्णकी सेवा करनेका अवसर पा रहे हैं। वे अर्चा रूपसे अवतीर्ण होकर हमारी आत्माकी सेवा-वृत्तिको जगा रहे हैं।

(२) अन्तर्यामी—प्रत्येक गुणमाया एवं जीवमाया रचित वस्तुमें भगवान् अन्तर्यामी रूपसे विराजमान हैं एवं हमें नियमितकर रहे हैं। अतएव श्रीमद्गीतामें भगवान्ने कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ाणि मायया॥

अर्थात् हे अर्जुन! सभी जीवोंके हृदयमें परमात्मारूपसे मैं अवस्थित हूँ। परमात्मा ही सभी जीवोंके नियन्ता एवं ईश्वर हैं। यन्त्रारूढ़ वस्तु जिस प्रकार घूमती है, उसी प्रकार सभी जीव भी ईश्वरके सर्वनियन्तृत्व धर्मके कारण जगतमें घूमते हैं।

(३) वैभव—नैमित्तिक अवतारोंको लक्ष्य कर कहा गया है। इन सब श्लोकोंमें नैमित्तिक युगावतारोंको कहा गया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

अर्थात् हे भारत ! जब जब धर्मके लिए ग्लानि उपस्थित होती है एवं अधर्मका उत्थान होता है, उस उस अवसरमें मैं स्वेच्छापूर्वक प्रकट होता हूँ।

(४) व्यूह—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध—ये चतुर्व्यूह एक ही वस्तु हैं। इसके एकपाद दर्शनसे सर्वदर्शन होता है। इस जगत् में जिस एकपादका विचार है, गणित शास्त्र द्वारा उसका कुछ समझ सकेंगे—सेवककी कितनी प्रचुरता है, सेव्यका क्या भाव है, हम उसे समझ सकते हैं।

(५) परतत्व—वासुदेव है, परात्परतत्व बलदेव हैं, परतम-परात्परतत्व कृष्ण हैं। विष्णुमूल आकरतत्व हैं। जिस प्रकार दूध अम्लके योगसे दही होता है, दूधका विकार जहाँ हुआ है, वहीं दही रूप रुद्रता है। विष्णु का वस्तुतः कोई विकार नहीं है, किन्तु मेरी धारणामें जो विकृत भाव है, वही रुद्रत्व है। विष्णुमें विकारका आरोप कर मूल आकर-वस्तुकी धारणाको अविकृत या यथायथ (intact) न रखकर उसका परिवर्त्तन जहाँ हो, वहीं हम जो Mutilated, distorted form (बिगड़ा हुआ या खण्डित रूप) में जो देखते हैं, वही रुद्रत्व है।

ब्रह्मा विभिन्न स्फटिक आधारोंमें सूर्यके प्रतिफलित प्रतिबिम्बकी तरह हैं—

भास्वान् यथाश्मसमकलेषु निजेषु तेजः
स्वीयं कियत् प्रकटयत्यपि तद्वदत्र।
ब्रह्मा स एष जगदण्डविधानकर्त्ता
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य पृथक् पृथक् प्रस्तरमें अपने तेजको कुछ कुछ परिमाणमें प्रकट करते हैं, उसी प्रकार जो आदिपुरुष गोविन्द किसी जीवमें अपनी शक्ति प्रदान कर ब्रह्मा होकर जगत् रूपी अण्डकी रचना करते हैं, मैं उनका भजन करता हूँ।

सूर्य-कालचक्रमें अवस्थित १२ राशियोंमें घूमते रहते हैं। वे सुरमूर्त्ति या देवमूर्त्ति हैं। काल उनके बाहरका प्रकाश है।

अचिन्त्यव्यक्ताय निर्गुणाय गुणात्मने।
समस्तजगदाधारमूर्त्तये ब्रह्मणे नमः॥

गणेश—विघ्नविनाशकारी हैं। 'ललित-विस्तर' ग्रन्थ पढ़नेपर जाना जाता है कि एक समय भारतवर्षमें यह गणनायकत्व या गणाधिपत्य किस प्रकार प्रबल था। गणेश जागतिक कर्मराज्यके सिद्धिप्रदाता एवं वैश्योंके आराध्य हैं। वैश्य जगत्में गण-धर्म, गण-मत या गण-मण्डलीका विचार ही प्रबल है।

विष्णु किन्तु सर्वव्यापी, मायाधीश एवं अविकारी हैं। वे जीवोंकी भोग-प्रवृत्तिद्वारा सेवित नहीं होते। दूसरे-दूसरे आधिकारिक देवता जीवोंकी भोगपर चिन्ताधारा द्वारा सेव्य हैं। किन्तु विष्णुके सेवाकांक्षियोंका विचार ऐसा है—

कामादीनां कति न कतिधा पालिता दुर्निदेशा-
जाता तेषां मयि न करुणा न त्रपा नोपशान्तिः।
उत्सृज्यैतानथ यदुपते साम्प्रतं लब्धबुद्धि-
स्त्वामायातः शरणमभयं मां नियुंक्ष्वात्मदास्ये॥

अर्थात् हे भगवन् ! मैंने कामादि छः

रिपुओंका दुष्ट आदेश कितने प्रकारसे पालन किया है। तथापि मेरी प्रति उनकी करुणा नहीं हुई, लज्जा एवं उपशान्ति भी नहीं मिलीं। हे यदुपते! इस समय मैं विवेक लाभकर उनका परित्याग कर आपके अभय चरणोंमें शरणागत हुआ हूँ। आप मुझे आपके दास्यमें नियुक्त करें।

—अगद्गुरु ॐ विष्णुपाद
श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

(विभिन्न बातें)

१—जीवोंकी क्रमोन्नतिका क्या आधार है ?

"अपने अपने अधिकारमें स्थिर रह सके, तो ही जीवोंकी क्रमोन्नति होती है एवं अधिकारच्युत होनेसे ही पतन होता है।"

—'श्रीपुरुषोत्तम मास माहात्म्य',
स० तो० १०।६

२—क्या स्वयं श्रीनाम-ग्रहण एवं प्रचार को छोड़कर भक्तिधर्ममें दूसरे जीवोंकी श्रद्धा उत्पन्न की जा सकती है ?

"जब तक भक्तिविपरीत वासनाका ध्वंस न हो, तब तक उन्हें जितना ही सदुपदेश क्यों न दिया जाय, वे समस्त ही उनके कर्ण-पथसे ही लौट आयेंगे, हृदयमें प्रवेश नहीं करेंगे। अतएव तुम लोग जितना भी भक्तिधर्म क्यों न प्रचार करो, जितना भी भक्तिधर्मकी सदालोचना क्यों न करो, उनके अपने कर्मदोषसे कोई भी सफल प्रदान नहीं कर सकोगे। अतएव तुम लोगोंकी वक्तृता या आलोचनासे कुछ फल नहीं होगा। तुम लोगोंके प्रति मेरी यही आज्ञा है कि —×—×—×दुर्गत जीवोंके कल्याण कामी होकर तुम लोग सब समय श्रीनाम-कीर्त्तन करो। उस नाम-महिमाके श्रवणसे उनकी जो सुकृति होगी—नामकी महिमाके प्रति जो विश्वासका संचार होगा, उसीके फलसे नामकी कृपा द्वारा जन्म-जन्मान्तरमें उनकी शुद्ध भक्ति-धर्ममें निष्कपट श्रद्धा होगी।"

—'नववर्ष आर्त्ति-निवेदन' स० तो० १५।१

३—श्री, सुख-दुःख, पण्डित-मूर्ख, सुपथ-उत्पथ, स्वर्ग-नरक, गृह, सम्पन्न-दरिद्र, कृपण, ईश एवं अनीश किसे कहते हैं ?

"निरपेक्षता आदि सभी गुणोंका नाम ही 'श्री' है, सुख-दुःखके विनाशका नाम ही

'दुःख' है। बन्धमोक्षविद् व्यक्ति ही 'पण्डित' हैं। जिनमें देहादिके प्रति अहं-बुद्धि है, वे ही 'मूर्ख' हैं। कृष्णका निगम या आज्ञा ही 'सुपथ' है, चित्त-विक्षेप ही 'उत्पथ' है, सत्व-गुणोदय ही 'स्वर्ग' है, तमो-गुण-वृद्धिका नाम ही 'नरक' है, कृष्ण ही एकमात्र बन्धु एवं गुरु हैं। मनुष्य-शरीर ही 'गृह' है, गुणवान् व्यक्ति ही 'आढ्य' या सम्पन्न हैं, असन्तुष्ट व्यक्ति ही 'दरिद्र' है। अजितेन्द्रिय व्यक्ति ही 'कृपण' है, जो गुणोंमें अर्थात् प्राकृत गुणोंमें अनासक्त हैं, वे ही 'ईश' हैं एवं जो प्राकृत गुणोंमें आसक्त हैं, वे ही 'अनीश' हैं।"

—'प्रमाण-निर्देशः', श्री भा० म० मा० १।४४-४७

शुभाशुभ फलके लिए अदृष्ट दायी है क्या ?

"समय जब तक मन्द हो, तब तक कोई सुविधा देखी नहीं जाती। समय अच्छा होनेपर सभी दिशाएँ प्रसन्न होती हैं।"

—ठाकुर का आत्मचरित

५—'अकाल-कुष्माण्ड' किसे कहते हैं ?

"आजकल यह एक रोग हुआ है कि थोड़ासा 'क', 'ख' लिख लेनेसे ही अनायासमें अजातश्मश्रु (अप्राप्त वयस्क) बालक गुरुकी तरह उपदेश करने लगते हैं—इन्हें ही 'अकाल-कुष्माण्ड' कहा जाता है।"

—'समालोचना', स० तो० १।४

६—नव-पाण्डित्यका लक्षण किस प्रकार है ?

"प्राचीन मतके प्रति आक्रमण करना ही आजकल पाण्डित्य का लक्षण हो उठा है।"

—'नूतन-पत्रिका', स० तो० ४।२

७—वागाडम्बर एवं पाण्डित्यमें क्या प्रभेद है ? युवकगण साधारण रूपसे किसके पक्षपाती हैं ??

"वागाडम्बर एवं पाण्डित्य—ये पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। पाश्चात्य पण्डितोंमें जितना वागाडम्बर है, उतना पाण्डित्य नहीं है। भारत-क्षेत्रके ग्रन्थकर्त्ताओंका वागाडम्बर थोड़ा है, किन्तु सारत्व अधिक है। अल्प वयस्क युवक लोग स्वभावतः ही पाण्डित्य की अपेक्षा वागाडम्बरके पक्षपाती हैं।"

—'सम्प्रदाय-प्रणाली', स० तो० ४।२

८—क्या केवल वयसको अधिकारका मूल कहा जा सकता है ?

"केवल वयसको अधिकार का मूल कहा नहीं जा सकता। कई वृद्ध व्यक्ति मन ही मन अपने को बालक समझते हैं। वयस यथेष्ट होने पर भी, दाँतोंके गिर जाने एवं केश पक जाने पर भी वे लोग केशमें रंग लगाकर एवं चाँदीके दाँत लगाकर बालकों की तरह विलासमें व्यस्त रहते हैं। उन सभी वृद्ध व्यक्तियोंका जब वैराग्य नहीं होता, तब वयस को वैराग्यका मूल कहा नहीं जा सकता।"

—'मर्कट-वैराग्य', स०तो० ८।१०

९—धारणा, अनुभूति एवं युक्ति किसे कहते हैं ?

"विषयोंके साथ इन्द्रियोंका साक्षात्कार

होने पर इन्द्रिय रूप द्वार द्वारा विषयका प्रतिबिम्ब अन्तःपुरमें प्रवेश करता है। वहाँ कोई एक अन्तरेन्द्रिय इस प्रतिबिम्बको स्थान देकर यत्नपूर्वक रखती है। इस वृत्तिको धारणा कहा जा सकता है। पश्चात् इस अन्तरेन्द्रिय की किसी दो वृत्तियों द्वारा धृत या संग्रहीत भाव समूहकी अनुकल्प एवं विकल्प साधना द्वारा कल्पित सभी पदार्थोंकी अनुभूति होती है। वह अन्तरेन्द्रिय इन समस्त पदार्थोंके ऊपर अपना साम्राज्य विस्तार करते हुए अच्छा-बुरा आदि विचार किया करती है। इस विचारको 'युक्ति' कहा जा सकता है। इन सभी प्रक्रियाओं पर विशेष-विचार करने पर इसे इन्द्रियमूलक कहा जा सकता है।"

—त० सू० १६ वाँ सूत्र

१०—शुद्ध युक्ति एवं मिश्रयुक्ति किसे कहते हैं ?

"युक्ति दो प्रकार की है—शुद्धयुक्ति एवं मिश्रयुक्ति। शुद्ध आत्माकी चिदालोचना-वृत्तिको 'शुद्धियुक्ति' कह सकते हैं. वह निर्दोष एवं आत्माका स्वाभाविक धर्म है। जड़बद्ध आत्माकी ऐसी स्वाभाविक वृत्तिके जड़-भाव मिश्र विकारको मिश्र-युक्ति कहते हैं। वह दो प्रकारकी है—अर्थात् कर्ममिश्र एवं ज्ञानमिश्र। उसका दूसरा नाम ही 'तर्क' है। यही निन्दा करने योग्य है।"

—त० वि०,१४ अनु० १८

११—जड़-तत्ववेत्ता पण्डितोंके लिए चित्तत्वके मीमांसक होने की दांभिकता पोषण करना उचित है क्या ?

"अपक्व चिकित्सक जिस प्रकार अनुचित औषधि-प्रयोगके द्वारा समस्त शरीरिक पीड़ा निवृत्ति करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, उसी प्रकार हमारे नवीन जड़वेत्ता पण्डिताभिमानी व्यक्ति जैव जीवनके सारे गूढ़तम तत्वोंके बारेमें सिद्धान्त करनेके लिए अपने क्षुद्र जड़वादके अन्तर्गत वर्त्तमान सभी विधियोंका प्रयोग किया करते हैं। प्रमाद या भूलसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओं या क्लेशादिकी ओर ध्यान न देकर अमूलक (भित्ति या आधार रहित अथवा असार) स्वप्नतुल्य विद्याके ऊपर निर्भर रहकर उसीमें विश्वास करते हुए सभी विषयोंके तथ्योंके बारेमें अनुसन्धान किया करते हैं।"

—धर्म एवं विज्ञान' स० तो० ७।७

१२—किस कारणसे चिन्ताशील व्यक्ति भी श्रीमद्भागवतके यथार्थ मर्मको जाननेमें असमर्थ हुए हैं ?

"Men of brilliant thoughts have passed by the work (the Bhagabat) in quest of truth and philosophy, but the prejudice which they imbibed from its useless readers and their conduct prevented them from making a candid investigation."

—The Bhagabat: Its Philosophy, Its Ethics and Its Theology.

अर्थात् तीक्ष्ण विचारयुक्त व्यक्तियोंने

सत्य एवं तत्त्व-ज्ञानकी खोजमें इस महान् ग्रंथ (श्रीमद्भागवत) का अध्ययन किया है। किन्तु उन लोगोंने श्रीमद्भागवतके असार-ग्राही पाठकों एवं उनके आचरणको देखकर मनमें जो अविचारपूर्ण निर्णयको धारण कर रखा है, उसके कारण ही वे निष्कपट अनुसन्धान न कर सके।

१३—किस प्रकारकी चित्तवृत्ति लेकर ग्रन्थ-अध्ययन करना उचित है ?

"In fact, most readers are mere repositories of facts and statements made by other people. But this is not study. The student is to read the facts with a view to create and not with the object of fruitless retentions Students like satellites should reflect whatever light they receive from authors and not imprison the facts and thoughts just as the Magistrates imprison the convicts in the jail."

—The Bhagabat : Its Philosuphy, Its Ethics and Its theology.

यथार्थमें अधिकांश पाठक दूसरे व्यक्तियों के कथन एवं उनकी उपलब्धियोंके कोषमात्र हैं। परन्तु इसे अध्ययन नहीं कहा जा सकता। विद्यार्थीको उपलब्धियोंका विचार इस दृष्टिसे करना चाहिए कि उसमें निर्माण-शक्ति आये न कि केवल निरर्थक धारण तक सीमित रहा जाय। विद्यार्थी लोगोंका कर्त्तव्य है कि वे उपग्रहोंकी भाँति जो कुछ प्रकाश ग्रंथ कर्त्तासे वे प्राप्त करें, उसपर भलीभाँति विचार करें और न कि केवल उन विचारों एवं उपलब्धियोंको मनमें ही आबद्ध रखें, जैसे कि न्यायाधीश लोग दोषी व्यक्तियोंको कारागारमें आबद्ध करते हैं।

१४—महाजनोंकी वाणी रहस्यद्वारा क्यों ढकी रहती है एवं कब सहज समझने योग्य होती है ?

The expressions of all great men are nice but somewhat mysterious—when understood, they bring the truth nearest to the heart. otherise they remain mere letters that "kill". The reason of the mystery is that men, advanced in their inward approach to Deity, are in the habit of receiving revelations which are but mysteries to those that are behind them."

—'To Love god' (Journal of Tajpur, 25th Aug, 1871)

अर्थात् सभी महापुरुषोंके कथन सुन्दर हैं, परन्तु बहुत कुछ रहस्यपूर्ण हैं। समझनेमें समर्थ होनेपर वे हमें सत्यकी निकटतम सीमा तक ले जाते हैं। नहीं तो वे केवल आत्म-विनाशकारी हो जाते हैं। इस रहस्यका कारण यह है कि उपास्यकी ओर आन्तरिक पहुँच प्राप्त करनेमें जो व्यक्ति बहुत कुछ आगे बढ़े हुए हैं, वे प्रायः ही प्रकाश प्राप्त करते हैं, जो उनके पीछे रहनेवाले व्यक्तियोंके लिए रहस्यपूर्ण हैं।

१५—क्या जड़जगत् चिज्जगतका कोई

सन्धान देता है ?

"The outward appearance of Nature is nothing more than a sure index of its spiritual face. ×—×—× Matter is the dictionary of spirit and material pictures are but the shadows of the spiritual affairs which our material eye carries back to our spiritual perception."

—The Bhagabat: Its Philosophy, Its Ethics and Its Theology.

अर्थात् प्रकृतिका बाहरी दिखावट केवल अपनी पारमार्थिक आकृतिका निश्चित प्रदर्शक मात्र है। ×—×—× जड़ वस्तु आत्मा का कोष है एवं सभी जड़ीय चित्र उन पारमार्थिक घटनाओंके छाया मात्र हैं, जिन्हें हमारी जड़ीय आँख हमारे पारमार्थिक बोधकी ओर ले जाती है।

१६—श्रीचैतन्य महाप्रभुद्वारा प्रचारित धर्ममें पण्डित एवं मूर्खका समान अधिकार होनेपर भी क्या उन लोगोंकी भजन-प्रणाली में पार्थक्य है ?

"The religion preached by Mahaprabhu is universal and not exclusive. The most learned and the most ignorant are both entittled to embrace it. The learned people will accept it with a knowledge of Sambandha Tatwa as explained in the categories. The ignorant have the same previlege by simply uttering the name of the Deity and mixing in the Company of pure Vaishnavas."

—Chaitanya Mahaprabhu: His Life and Precepts.

अर्थात् श्रीचैतन्य महाप्रभुद्वारा प्रचारित धर्म सार्वजनिक है न कि केवल कुछ व्यक्ति-विशेषमात्रका। सबसे विद्वान् एवं सबसे मूर्ख—सभी ही इसको ग्रहण करनेके अधिकारी हैं। विद्वान् व्यक्ति इसे विभिन्नवर्गोंमें वर्णित सम्बन्ध-तत्त्वका ज्ञान संग्रहपूर्वक ग्रहण करेंगे। अबोध व्यक्ति ऐसी सुविधा केवल भगवान्के नामोच्चारणमात्रसे ही एवं शुद्ध वैष्णवोंके संग करने मात्रसे ही पा लेते हैं।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद
श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

जगद्गुरु श्रील प्रभुपाद एवं अप्राकृत वाणी

[जगद्गुरु नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद् भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी प्रदत्त भाषणसे]

आज श्रील प्रभुपादजीकी विरह-तिथि है। विरह-तिथिमें उनका स्मरण ही हमारा एकमात्र कर्त्तव्य है। श्रीरूप-नुग गुरुवर्गने हमें बतलाया है—"कीर्त्तन प्रभावे स्मरण हइबे, से काले भजन निर्जन संभव।" अर्थात् कीर्त्तन प्रभावसे स्मरण होनेपर उस समय निर्जन भजन संभव है। अतएव कीर्त्तन बिना जो स्मरण हो, वह कदापि फलदायी नहीं होता। स्मरणके बिना कीर्त्तन भी नहीं होता। वृन्दावन, श्रीक्षेत्र आदि स्थानोंमें कृत्रिम स्मरण करनेवालोंकी विशेष उत्पत्ति देखी जाती है। किन्तु शास्त्रोंमें कीर्त्तनके साथ ही स्मरणकी व्यवस्था की गई है। कीर्त्तनके बिना कोई भी भक्तिका अङ्ग भली प्रकारसे पालन नहीं किया जा सकता—"यद्यप्यन्या भक्तिः कलौ कर्त्तव्या, तदा कीर्त्तनाख्या भक्ति संयोगेनैव।" अर्थात् यद्यपि कलिकालमें भक्तिके दूसरे-दूसरे अङ्ग पालन कर्त्तव्य हैं, किन्तु कीर्त्तनरूपा भक्तिके साथ ही कर्त्तव्य है। श्रीप्रह्लाद महाराजने स्मरणके प्रभावसे भगवान्‌को प्राप्त किया है। भा० ७।५।२३ के 'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं' श्लोकमें कीर्त्तनके प्रभावसे किये जानेवाले स्मरणकी प्रधानता कही गई है। श्रील प्रभुपादजीने आजीवन आचार-प्रचारद्वारा इसी विचारकी स्थापना की है। वे कदापि तथाकथित निर्जन भजनका आदर नहीं करते थे। 'निर्जन भजन' का अर्थ है दुःसंग परित्यागकर भजन करना। हरि-कथा प्रचार ही यथार्थ निर्जन भजन है। हरिकथाके श्रोता, वक्ता सभी ही साधु हैं। भगवान्‌की कथाके श्रोता, अनुपठनकारी, ध्यानकारी, आदरकारी, अनुमोदक—ये सभी ही उसके अनुशीलनके द्वारा तुरन्त शीघ्र ही पवित्रता प्राप्त करते हैं। अतएव हरिकथाके श्रवण-कीर्त्तनद्वारा ही यथार्थ भगवद् भजन संभव है।

श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी वर्णित "वृन्दावनीयां रसकेलिवार्त्ता" (चैतन्यचरितामृत, मध्य १९।१)— इसका श्रीचैतन्य महाप्रभुने अपनी शक्तिका सञ्चार कर श्रील रूप गोस्वामीपादके हृदयमें प्रकाश किया है। श्रीभगवान्‌की लीला-[illegible] रूपा है। "कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणाम्"— यह बात श्रीमद्भगवद्गीताके विभूति योग १०।३४ श्लोकमें भगवान्‌द्वारा कही गई है। अर्थात् नारियोंमें कीर्त्ति, श्री [illegible] वाक् (वाणी) मैं हूँ। ब्रह्माण्ड-पुराणमें कहा है—कण्ठ, ओंठ, दांत, आदि द्वारा जो शब्द-सामान्य उच्चारित हो, श्रीनाम एवं भगवद्वाणी

उससे अतीत वस्तु हैं। वे प्राकृत देश-कालके अन्तर्गत नहीं है। श्रीनाम एवं नामी जिस प्रकार अभिन्न हैं, उसी प्रकार उनकी वाणी एवं श्रीभगवान् दोनों ही अभिन्न हैं। वे (नाम एवं वाणी) पूर्णचेतनमय शब्दब्रह्म हैं। अतएव कहा गया है—"हृदय हइते बोले, जिह्वार अग्रेते चले, शब्दरूपे नाचे अनुक्षण।" अर्थात् श्रीनाम रूपी ब्रह्म हृदयसे बोलते हैं, जिह्वाके अग्रभागमें चलते हैं एवं शब्दरूपसे सर्वदा नाचते हैं। स्वयं भगवान् इस जगत्में शक्त्याविष्ट पुरुष रूपसे प्रकट होते हैं। उनकी वाणी ही हमारे लिए एकमात्र सहारा है। कर्ममार्गमें लिप्त रहने पर उस वाणीका तात्पर्य हम समझ नहीं सकेंगे। अतएव निखिल शास्त्र-शिरोमणि श्रीमद्भागवत (११।२०।९) में कहा गया है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

अर्थात् जब तक कर्मफलके भोगके प्रति विरक्ति न हो, या भक्तिमार्गमें मेरी (भगवान् की) कथामें श्रद्धाका उदय न हो, तब तक ही लौकिक सभी कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए। त्यागी या भगवद्भक्तके लिए लौकिक कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है।

जब तक हम कर्म-मार्गमें विचरण करेंगे, तब तक भक्तिमार्गमें श्रीभगवान्के कथाके प्रति हमारी श्रद्धाका उदय न होगा। तात्पर्य यही है कि भगवान्के भक्त कदापि कर्मका आचरण नहीं करते या उनके लिए कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। केवल खाने-पीने पहननेके लिए हमें जीवित रहनेकी आवश्यकता नहीं है। मूर्ख व्यक्ति लोग ही हरिभजनकी आवश्यकताका अनुभव नहीं करते। इसी कारणसे ही हमारी शान्ति प्राप्तिमें इतने विघ्न उपस्थित होते हैं।

जगद्गुरु श्रील प्रभुपादजीने "सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः" (भा० ११।२६।२६)—इस वाणीकी सार्थकता सम्पन्न कर जगत्में एक महान क्रान्ति लाए हैं। इस वाणीका तात्पर्य यह है कि एकमात्र सन्त लोग ही अपने उपदेशोंद्वारा मनुष्योंके चित्तके क्लेश का विनाश करते हैं। श्रील प्रभुपादजी स्वयं वाणीरूपा 'सरस्वती' हैं। उन्होंने जगत्के व्यक्तियोंकी प्राकृत रुचिके अनुकूल बातोंमें समर्थन न देकर—रोगीको मीठी बातें कहकर उसके दूषित घावमें हाथ न फेरकर उसपर direct operation (सीधा चीरफाड़) किया है। ये तेजस्वी आचार्य-केसरी सत्यके निर्भीक प्रचारक थे। असत्यके प्रति चिरदिन ही उन्होंने Non-Cooperation (असहयोग) दिखलाया है। श्रील प्रभुपादजीने श्रीमद् भक्तिविनोद ठाकुरजीके पुत्र स्वरूपसे प्रकट होकर श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीके ही यथार्थ स्वरूपको जगतके व्यक्तियोंके निकट भली प्रकारसे व्यक्त किया है। विभिन्न ग्रंथादि एवं प्रबन्धोंमें श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीके साथ श्रील प्रभुपादजीकी लेखन-प्रणालीमें कुछ तारतम्य जैसे दीखनेपर भी उन दोनोंका तात्पर्य एक ही है। श्रील प्रभुपादजीने अपनी वाणी द्वारा ही श्रील भक्तिविनोद ठाकुरजीके मनोऽभीष्टका प्रचार किया है।

जगद्गुरु श्रील प्रभुपादजीने अपने अप्रकट-कालकी आशीस् वाणीमें कहा है—"Love and Rupture (प्रेम एवं विरोध) दोनों एक ही तात्पर्यपर हैं।" जगत्के व्यक्ति हरिभजन नहीं कर रहे हैं, यह देखकर हरिभजन नहीं छोड़ना होगा। भगवान्की सेवा सब समय सभी कालमें करनी होगी। हमें मायाके हाथोंसे अवश्य ही छुटकारा प्राप्त करना है। वर्त्तमान कालमें भगवान्की सेवा या हरिभजनका नाम सुनने मात्रसे ही हम अत्यन्त आतङ्कित हो पड़ते हैं। कोई भी पुत्र यदि सुमति लाभ कर सुकृतिके प्रभावसे भगवद्भजनमें रुचि प्राप्त करे, तो तुरन्त ही उसके माता-पिता उसे संसारमें बांधकर रखने के लिए जोरोंसे लग पड़ते हैं। वे उसे नाना प्रकारके हृदय-विदारक एवं प्रलोभन वाक्य सुनाकर घरमें लौटाकर ले जानेके लिए कृतसंकल्प होते हैं। धर्मालोचनाकी कमीके कारण ही बिलकुल कर्त्तव्याकर्त्तव्य ज्ञान भूल कर हम इस प्रकारकी दुर्दशामें पहुँचे हैं। प्राचीन कालमें ऋषियुगमें सुकुमार-बुद्धिवाले बालकोंके लिए संयमसे रहते हुए गुरुगृहमें रहकर ब्रह्मचर्य-व्रत पालन एव शास्त्रादि आलोचनाकी व्यवस्था थी। शास्त्र अध्ययनादि समाप्त करनेपर भी यदि कोई कामनायुक्त हो, तो वे गुरु-दक्षिणा प्रदान कर समावर्त्तन (गृह-प्रत्यागमन) करते थे। और कोई कोई भगवत् भजनमें रुचि प्राप्त कर आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण कर गुरु गृहमें ही वास करते थे। वर्त्तमान समयमें भारतके किसी किसी स्थानमें इस प्रकारके आश्रम या गुरुकुल रहने पर भी वर्णाश्रम-धर्मका पालन न होनेके कारण हम उसकी आवश्यकता समझ नहीं पाते। यह हमारे विशेष-दुर्भाग्य एवं अधःपतनका ही लक्षण है। स्वयं सेश्वर-नैतिक एवं धार्मिक होकर पुत्रोंको धर्म-जीवन पालन करनेमें उत्साह देना ही माता-पिताका कर्त्तव्य है। इसके द्वारा ही दैव-वर्णाश्रमधर्मकी फिर से स्थापना होगी एवं भारत अपने खोये गौरव को पुनः पानेमें समर्थ हो सकेगा।

वर्त्तमान समयमें शास्त्रीय वाणी ही हमारी एकमात्र रक्षा कर सकती है। श्रीबलि महाराजने भगवान्की वाणीका निर्विचारसे पालन कर नित्यकाल भगवान्की श्रीपादपद्म-सेवाका सौभाग्य प्राप्त किया है। भगवद्वाणीके आचार-प्रचार करनेपर हम भी श्रीबलि महाराजके आनुगत्यमें श्रीभगवान्के चरण-कमलोंमें स्थान प्राप्त कर सकेंगे। संन्यासग्रहण कर निरपेक्ष एवं आचारपरायण होकर हमें भी जगत्में निष्कपट कृष्णकथाका प्रचार करना होगा।

सन्दर्भ-सार

(भक्ति-संदर्भ—३४)

[गताङ्क पृष्ठ २६४ से आगे]

यहाँ तद् शब्दके साथ पहले कहे गये महत् शब्दका अन्वय करना होगा। भगवान्‌के प्रति प्रेमरूप परम पुरुषार्थयुक्त होनेके कारण विषय-वार्त्तानिष्ठ व्यक्तियोंके प्रति एवं स्त्री, पुत्र एवं बन्धुओंके प्रति प्रीतियुक्त नहीं हैं या गृहासक्त नहीं हैं। वे लोग भगवान्‌की सेवाके प्रयोजनानुसार ग्रहण करते हैं। महान् ज्ञान एवं महान् भक्तिके कारण क्रमशः ज्ञानी एवं भक्त दोनों की महत्ता कही जानेपर भी दोनों के अभिप्राय भिन्न भिन्न हैं। क्योंकि "सिद्धिप्राप्त महापुरुषोंमें भी नारायणपरायण भक्त सुदुर्लभ हैं" भागवतके इस वचनद्वारा ज्ञानीकी अपेक्षा भगवत् परायण पुरुषकी सर्वश्रेष्ठता बतलाई गई हैं।

(भक्ति-संदर्भ—३५)

भक्तिमार्गमें एवं ज्ञानमार्गमें जो दो प्रकारके महत् व्यक्तियोंकी बात कही गई है, उसमेंसे ज्ञानीके बारेमें कहते हैं—

देहंच तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमथदैववशादुपेतं ।
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥

(भा० ३।२८।३७)

मदिरासे मदमत्त व्यक्ति जिस प्रकार अपने पहने हुए वस्त्रके प्रति देखते हैं, उसी प्रकार सिद्ध पुरुष जिस देहद्वारा स्वरूपको जाननेमें समर्थ हुए हैं, स्वरूप ज्ञानके पश्चात् वह नश्वर देह आसनमें उपविष्ट रहे या आसन में नहीं रहे, हठात् स्थानच्युत हो या दैववशतः पुनः प्रतिक्रियाशील क्यों न हो, उसका दर्शन नहीं करते।

इसके पश्चात् भगवत्-पार्षद देह-प्राप्त, कषाय (वासना) शून्य एवं मूर्च्छितकषाय (क्षय-शील वासना) युक्त तीन प्रकारके भक्तोंका प्रसंग कहा जा रहा है या श्रीनारदजी, श्री शुकदेवजी एवं पूर्वजन्मगत नारदजी इसके उदाहरणस्वरूप हैं।

पार्षद देह-प्राप्त श्रीनारदजीका वाक्य—

प्रयुज्यमानें मयि तां शुद्धां भागवतीं तनुम्।
प्रारब्धकर्मनिर्वाणो न्यपतत् पांचभौतिकः ॥

(भा० १।६।२९)

भगवान् श्रीहरिद्वारा अपनी पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार मुझे शुद्ध सत्वयुक्त चिन्मय देह प्रदान करनेपर मेरे प्रारब्धकर्म नष्ट हो जानेके कारण मेरे पांचभौतिक देहका पतन हो गया था ।

श्रीशुकदेवजीकी वासनाध्वंस हुए अवस्था की बात—

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि ॥
(भा० १२।१२।६९)

जिनका चित्त अपनी आत्माके सुखसे परिपूर्ण होनेके कारण दूसरे भावसे रहित होकर श्रीकृष्णलीलाके प्रति आकृष्ट होनेके कारण स्वयं कृपापूर्वक जिन्होंने श्रीहरितत्व प्रकाशक यह पुराण प्रकाशित किया है, अखिल पापोंके नाश करनेवाले उन श्रीव्यासनन्दन श्रीशुकदेवको नमस्कार करता हूँ ।

प्रायः ध्वंसप्राप्त वासनाके बारेमें पूर्वजन्मगत श्रीनारदजीका प्रसंग—

हन्तास्मिन् जन्मनि भवान्मा मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥
(भा० १।६।१८)

हे वत्स ! तुम इस जन्ममें संसार-दशामें मेरे दर्शन करनेमें समर्थ नहीं हो, क्योंकि जिनके काम इत्यादि हृदयके मल दूर नहीं हुए हैं, ऐसे कुयोगी व्यक्ति मेरा दर्शन नहीं कर सकते ।

श्रीनारदजीने पूर्वजन्मगत विषयवासना से दूषित चित्तवाले अपने प्रेमकी बात स्वयं कह रहे हैं—

प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।
आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥
(भा० १।६।१८)

हे व्यासदेव ! उस समय गंभीर या तीव्र प्रेमभावसे शरीर पुलकित एवं अत्यन्त सुख अनुभूत होनेके कारण मैं आनन्दसागरमें निमग्न होकर अपनेको एवं दूसरेको प्रत्यक्ष नहीं कर सका ।

इस विषयमें जड़भरतका उदाहरण ही उपयुक्त है । उनकी भूतपालनेच्छारूप सात्विक कषायभाव (वासना) अत्यन्त गूढ़ रूप से वर्तमान था एवं प्रेम भी था, यह बात वर्णन की गई है । पहले कहे गये तीन प्रकार के भक्त समजातीय प्रेमविशिष्ट होनेपर भी पूर्व पूर्व क्रमानुसार अधिकता जाननी होगी । भजनीय भगवान्के अंश-अंशित्व भेदसे एवं भजनकारीके दास्य, संख्य आदि भेदसे स्वरूप की अधिकता एवं भक्तके प्रेमांकुर एवं प्रेम आदिके भेदसे परिमाणकी अधिकता समझनी होगी ।

यद्यपि भगवत्-साक्षात्कार ही जीवोंका प्रयोजन है, किन्तु ऐसा होनेपर भी उस साक्षात्कारमें भगवान्का प्रियत्व-धर्म जितने अधिक परिमाणमें अनुभव किया जाय, उतना ही उत्कर्ष जानना होगा । पित्तसे दूषित जिह्वा मिश्रीके भक्षणद्वारा माधुर्य आस्वादन नहीं कर पाती । अतएव वह भक्षण अभक्षणके रूपसे ही गण्य है । उसी प्रकार निरुपाधिक (स्थूल एवं सूक्ष्म उपाधिशून्य) प्रीतिके विषय

रूप श्रीभगवानके प्रति प्रियत्व धर्मकी अनुभूति के बिना उनका साक्षात्कार भी असाक्षात्कारके समान ही है । इसलिए श्रीऋषभदेवजीने कहा है—

"प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ।"
(भा० ५।५।६)

जब तक वासुदेवरूपी मेरे प्रति प्रीतिरूपा भक्तिका उदय न हो, तब तक जीव देहयोगसे मुक्त नहीं होते। अतएव प्रेम-तारतम्यसे ही भक्त-महाजनोंका तारतम्य है। श्रीमद्भागवत में वर्णित है—

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु ।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥
(भा० ५।५।३)

जिनका ईश्वररूपी मुझमें सौहार्द स्थापन होनेके कारण देह भरण-पोषण आदिमें या गृह-देह-स्त्री-पुत्र-धनादिके प्रति प्रीति नहीं है, वे ही महत् हैं और जहाँ प्रेमकी अधिकता एवं साक्षात्कार वर्त्तमान हैं एवं कषाय (वासना) आदिका अभाव हो, उसे ही सबसे श्रेष्ठ मानना होगा।

इस विषयमें एक एक अङ्गकी विकलतामें साक्षात्कार आदिमें भी कमी जाननी होगी। अतएव "मुझमें सौहार्द स्थापनपूर्वक जो व्यक्ति उसे ही परम पुरुषार्थ समझते हैं," आदि श्लोकोंमें जिन सभी भक्तोंकी बात कही गई है, वे लोग पार्षद देहप्राप्त भक्तोंमें गिने नहीं जा सकते । क्योंकि उनका वैसे विषयमें वैराग्य वर्त्तमान रहनेपर भी गूढ़रूपसे विषय-संस्कारका भी अस्तित्व है।

इस विषयमें दूसरा प्रकरण कहा जा रहा है। निमिराजने कहा—

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम् ।
यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिंगैर्भगवत्प्रियः ॥
(भा० ११।२।४४)

हे ब्राह्मण ! भागवत पुरुष कौन है एवं किस प्रकारके धर्म स्वभाव आचरण एवं वाक्य से युक्त होकर जिन सभी चिन्होंद्वारा मनुष्योंमें वे भगवत्प्रिय होते हैं, वह कहें।

(क्रमशः)

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्
भक्तिभूदेव श्रौती महाराज